SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

आत्म–नियन्त्रण में योग का योगदान

अमित रंजन, शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Corresponding Author
अमित रंजन, शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय,
हजारीबाग, झारखंड, भारत

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 27/02/2021
Revised on : -----
Accepted on : 06/03/2021
Plagiarism : 02% on 27/02/2021

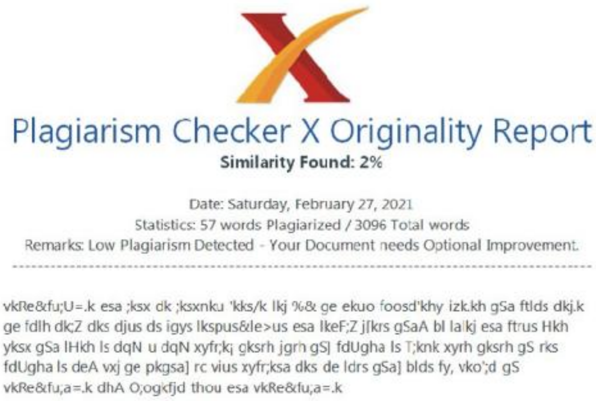
Plagiarism Checker X Originality Report
Similarity Found: 2%

Date: Saturday, February 27, 2021
Statistics: 57 words Plagiarized / 3096 Total words
Remarks: Low Plagiarism Detected - Your Document needs Optional Improvement.

vkRe&fu;U=.k esa ;ksx dk ;ksxnku 'kks/k lkj %& ge ekuo foosd'khy izk.kh gSa ftlds dkj.k ge fdlh dk;Z dks djus ds igys lkspus&le>us esa lkeF;Z j[krs gSaA bl lalkj esa ftrus Hkh yksx gSa lHkh ls dqN u dqN xyfr;k¡ gksrh jgrh gS] fdUgha ls T;knk xyrh gksrh gS rks fdUgha ls deA vxj ge pkgsa] rc vius xyfr;ksa dks de ldrs gSa] blds fy, vko';d gS vkRe&fu;a=.k dhA O;ogkfjd thou esa vkRe&fu;a=.k

शोध सार

मानव विवेकशील प्राणी हैं, जिसके कारण हम किसी कार्य को करने के पहले सोचने–समझने का सामर्थ्य रखते हैं। इस संसार में जितने भी लोग हैं सभी से कुछ न कुछ गलतियाँ होती रहती है, किन्हीं से ज्यादा गलती होती है तो किन्हीं से कम। अगर हम चाहें, तो अपने गलतियों को कम सकते हैं, इसके लिए आवश्यक है आत्म–नियंत्रण की। व्यवहारिक जीवन में आत्म–नियंत्रण कैसे किया जाय यह लोगों के लिए एक समस्या है। जैसे हमें पता होता है कि क्रोध से किसी का भला नहीं बल्कि नुकसान होता है दूसरों का और स्वयं का भी, पर फिर भी हम क्रोध कर ही जाते हैं, हम चाह कर भी अपने–आप में नियंत्रण नहीं रख पाते हैं। ऐसे में जरूरत है योग को अपनाने की, योग शारीरिक स्थिति के साथ मानसिक स्थिति में भी सुधार लाता है। साधारण अर्थ में हम योग को क्रिया के रूप में समझते हैं जिससे शारीरिक समस्याओं का निदान होता है। परन्तु योग न केवल शारीरिक स्थिति बल्कि मानसिक स्थिति को भी सुधार करने के लिए पर्याप्त है। योग एक उत्तम मार्ग है जिसपर हम चलकर उचित स्थान प्राप्त कर सकते हैं। जब कोई व्यक्ति योग करता है तब उसमें बहुत परिवर्तन देखने को मिलती है, खासकर मानसिक अवस्था में बदलाव। जैसे अगर कोई व्यक्ति उग्र स्वभाव का है, वह ज्यादा क्रोध करता है तब उसे योग मार्ग पर चलाकर उसके स्वभाव में सरलतापूर्वक परिवर्तन लाया जा सकता है अर्थात् वह क्रोध करना कम कर देता है साथ ही उसकी उग्रता भी कम हो जाती है।

मुख्य शब्द

शक्तिपुँज, अपरिग्रह, ईश्वर प्रणिधान, अष्टांग योग, बहिर्मुखी.

हम मानव अन्य प्राणियों से अलग हैं क्योंकि हमारे

अंदर विवेकशीलता है। विवेकशीलता होने के कारण ही मनुष्य अपने हर एक कार्य को सोच–समझकर करता है। हम मानव भले ही किसी भी कार्य को कितने ही सजगता से करें फिर भी उसमें कमियां रह ही जाती है, ठीक उसी प्रकार हमारे जीवन में कितने ही सपने इच्छायें पूरी होती है फिर भी कुछ न कुछ कमियां रह ही जाती है। जब हमारी इच्छा पूर्ण नहीं होती तो दो ही कार्य करते है – पहला किसी के प्रति क्रोध करना और दूसरा बहुत दुःखी होना। दुःख की स्थिति में केवल अपने को बर्बाद करना है लेकिन क्रोध में होने का अर्थ है अपने साथ अन्य को भी बर्बाद करना।

मानव एक शक्तिपुँज के समान है, जो इस विश्व का निर्माता एवं संहारक दोनों रूप में कार्य करता है। योग इस शक्तिपुँज को एक सकारात्मक रूप प्रदान करता है। योग एक उत्तम मार्ग है जो मानव को उचित स्थान, स्थिति की पूर्ति करने में सामर्थ्य रखता है और आत्म–नियंत्रण करने में सहायता प्रदान करता है।

योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ है, अर्थात् आत्मा को परमात्मा से जोड़ना, शरीर को प्राणवायु से जोड़ना। महर्षि पतंजलि के अनुसार योग का अर्थ चित्तवृत्ति निरोध से है। अर्थात् ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः''।

हम मानव दैनिक जीवन में इतने व्यस्त हो गए हैं कि, अपने कार्यो पर नियंत्रण नहीं रख पा रहे अर्थात् अपनी आत्म–नियंत्रण को खोते चले जा रहे हैं, ऐसे में योग की महत्ता बढ़ गई है, क्योंकि योग ही वो माध्यम है जिसे लगातार करते रहने से अपने–आप में नियंत्रण बनी रहती है। महर्षि पतंजलि का अष्टांग योग में अगर प्रथम दो अंग को अपना लिया जाय तो हम अपने–आप को नियंत्रण कर सकते हैं। अष्टांग योग के प्रथम अंग में यम की बात की गई है जो केवल निषेधात्मक कार्य को बतलाती है। इसके अंतर्गत मुख्यतः पाँच कार्यो का निषेध करना बतलाया गया हैः

1. झूठ न बोलना अर्थात् सदा सत्य बोलना।
2. हिंसा न करना अर्थात् अहिंसा।
3. अस्तेय इसका अर्थ है चोरी न करना।
4. ब्रह्मचर्य अर्थात् विषय वासनाओं का निषेध।
5. अपरिग्रह अर्थात् आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का ग्रहण न करना।

द्वितीय अंग भावात्मक कार्य है इसे मानव को करना चाहिए। इसमें भी मुख्यतः पाँच कार्यो को बतलाया गया हैः

1. शौच अर्थात् शारीरिक तथा मानसिक शुद्धिकरण।
2. संतोष अर्थात् उचित प्रयास से जो प्राप्त हो उसमें ही संतुष्ट रहना।
3. तप इसका अर्थ सर्दी–गर्मी आदि सहने और कठिन व्रत का पालन करने से है।
4. स्वाध्याय –नियमतः धर्म ग्रंथों का अध्ययन करना।
5. ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर के प्रति ध्यान लगाना।

उपर्युक्त यम और नियम के कार्यो को निष्ठा पूर्वक अपनाने से ही मानव अपने आप को नियंत्रित करने में सक्षम हो जाता है। सामान्यतः यम नियम को कर पाना उतनी सरल तो नहीं किंतु उतनी कठिन भी नहीं है। हम व्यवहारिक जीवन में अगर यम और नियम को स्वेच्छा से अपना ले तो आत्म नियंत्रण होने में बहुत ही सरल होगी, क्योंकि वास्तविकता में यम और नियम ही मानव जीवन जीने का आधार है, और इस आधार को महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग में प्रथम तथा द्वितीय अंग के रूप में बतलाया गया है अर्थात् इसे करने से ही योग का शुभारम्भ हो जाता है। जब हम यम और नियम को करने में सक्षम हो जाते है तो अपने–आप को आसन के लिए तैयार कर पाने में सक्षम हो जाते है और फलतः हम ऐसा करने से अपने आप को नियंत्रित कर सकते हैं।

हम व्यवहारिक जीवन में साधारणतः इतने व्यस्त रह जाते हैं, जिसके फलस्वरूप कभी–कभी अपनी दिनचर्या

को भी अनियमित ढंग से कर लेते हैं। ऐसे में जब अपने को नियंत्रण कर पाने में सक्षम नहीं हैं तो क्या किया जाय? अपने–आप को किस माध्यम से संयमित किया जाय? इसके उत्तर ढूँढ़ने में बड़ी व्याकुलता होती है। इन सारी व्याकुलता को केवल योग से ही शांत कर पाना संभव है।

अगर प्राचीनकाल की बात की जाय तो लोग उस काल में आध्यात्मिकता पर ज्यादा बल देते थे, किसी भी कार्य को धर्म–आस्था से जोड़कर ही करना पसंद करते। लोगों का खान–पान भी साधारण होता था, अर्थात् सादा भोजन लोग ज्यादातर पसंद करते थे और इसी के कारण लोगों का मन बहुत शांत और खुशनुमा होती थी। लोग किसी कार्य को बड़े ही सरलता से खुशी–खुशी कर लिया करते थे, क्योंकि लोगों का खान–पान रहन–सहन के कारण उनके विचार साधारण और सरल होते थे। वे कठिन से कठिन कार्यो को भी बहुत ही बुद्धिमानी से सरलता से कर लेते । योग साधना की वजह से उन्हें अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रहती थी और इसी के कारण अगर कोई इच्छा उनकी पूरी नहीं भी होती थी तो वे अपने आप को संतुष्ट कर लेते। भारत की संस्कृति छुपा जो रहिम के . . . . *साईं इतना दीजिए, जा मे कुटुम्ब समाय, मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।*

वर्तमान काल की बात कुछ और ही है, जैसे–जैसे समय बीतता गया समय के साथ मानव में परिवर्तन होता गया। आज मानव में इतना परिवर्तन हो गया हैं कि वह अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं रख पा रहे, जिसके कारण उनके भीतर क्रोध पनपती चली जा रही, इच्छाओं के पूर्ण न होने वे चिन्तित एवं दुःखी रहते हैं। दुःखी होने का कारण, क्रोधित होने का कारण, क्या केवल इच्छाओं का पूर्ण न होने से है? नही, बल्कि हमारे भीतर सहनशीलता समाप्त हो गई है, हममें इतनी क्षमताएँ ही नहीं है कि हम अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण पा सके या इच्छा पूर्ण न होने पर अपने को नियंत्रित कर सके। ऐसे में अगर हम अपने आप को नियन्त्रित करना चाहें, तो केवल योग ही वह माध्यम है, जिसकी मदद से आत्म नियन्त्रण हो सकती है।

जब आवत संतोषधनम् सब धन धूर समान ।

संतोष को लाने के लिए योग से जुड़ना जरूरी है।

योग करने में यम और नियम का पालन होना अति आवश्यक है। इसी के कारण महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में अष्टांगयोग के अंतर्गत प्रथम और द्वितीय अंग में क्रमशः यम और नियम को बतलाये हैं। जब तक हमें ये नहीं पता हो कि, क्या करनी चाहिए और क्या नहीं करनी चाहिए तब तक हम योगी नहीं बन सकते, साधना नहीं कर सकते, आत्म नियंत्रण नहीं कर सकते। अर्थात् कह सकते हैं कि आत्म नियंत्रण हेतु यम और नियम का पालन करना अतिआवश्यक है।

अगर हम यम और नियम का पालन ठीक से करलें तो महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग के अन्य अंगों का पालन करने में सरलता से सक्षम हो सकते हैं। आत्म नियंत्रण में अष्टांग योग का आसन की बहुत महत्ता है। हम मानव अगर थोड़ी सी भी अपने विचारों, कार्यो आदि से विचलित होते है तो हम एक स्थान पर सही तरीके से बैठकर चिंतन द्वारा आत्म नियंत्रण कर सकते हैं। अर्थात् अपने विचारों पर अडिग रह सकते हैं, अपनी कार्यो को बहुत बढ़िया तरीके से कर सकते हैं।

आसन शरीर का संयम है, जब हम चित्त की शांति या एकाग्रता की बात करते हैं तो शरीर का अनुशासन में होना आवश्यक हो जाता है। आसन का अर्थ है शरीर को ऐसे स्थिति में रखना जिससे सुखपूर्वक देर तक बैठ सके। पद्मासन, भद्रासन, सिद्धासन, या सुखासन आदि किसी आसन में स्थिरता और सुखपूर्वक बैठना ही आसन है। हम मानव को अपनी मन की व्याकुलता की शांति के लिए उपासन और ध्यान हेतु स्थिरता और सुखपूर्वक बैठने का लंबा अभ्यास करना चाहिए । कई ऐसे लोग हैं, जो उपर्युक्त आसनों में बैठ पाने में समर्थ नहीं होते, वे कहीं कुर्सी या दीवार आदि का सहारा से एकाग्र होकर मन की शांति के लिए ध्यान लगाने में सक्षम हो सकते हैं। हमें ज्ञातव्य है कि, आसन योग का एक अंग मात्र है जिसके करने से हम योग के अन्य अंगों तक पहुँचने में सक्षम हो पाते हैं, किंतु ऐसा तभी संभव है जब हम ईमानदारी से यम और नियम का पालन करते हैं।

हठ योग में चौरासी प्रकार के आसन बताये गए हैं। ध्यानात्मक आसनों के अतिरिक्त ऐसे आसन भी हैं जिनका

संबंध शारीरिक और मानसिक आरोग्य से है। अगर हम बीमार ही नहीं होगें तो फिर हमारा मन विचलित कैसे होगा। शारीरिक एवं मानसिक समस्याओं के कारण भी हम अपने स्थिति पर नियंत्रण नहीं रख पाते, फलस्वरूप हम अपने लक्ष्यों से बिखर जाते हैं, ऐसे में आसन का करना अनिवार्य हो जाता है, जो हमारे बुरे स्थितियों के लिए रामबाण के जैसा कार्य करता है और हमें संभाले रखता है।

अष्टांग योग में आसन के बाद प्राणायाम की बात की गयी है। प्राणायाम प्राणवायु का संयम है। पतंजलि ने इसे ऐच्छिक साधन माना है। मानव अगर इसे करना प्रारंभ कर दे तो मन की चंचलता दूर हो जाएगी। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदर रोगों में लाभप्रद है। बुद्धि सूक्ष्म व तीव्र होती है, और भी अन्य समस्याओं से छुटकारा मिलती है। इसके कारण अपने आप को नियन्त्रित रखने में काफी सहयोग मिल जाती है। प्राणवायु को नियंत्रित करने से हम फेफड़ा संबंधी सभी विकारों की निवृत्ति कर पाने में सक्षम हो जाते हैं। शरीर में शक्ति की वृद्धि होती है। अर्थ यह है कि प्राणायाम व्यवहारिक जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक है। प्राणायाम के तीन अंग बतलाये गए हैं:

1. **पूरक** – श्वास को भीतर खींचकर रोकना।
2. **रेचक** – भीतर की वायु को बाहर निकाल कर बाहर रोक देना।
3. **कुम्भक** – बिना पूरक और रेचक के श्वास–प्रश्वास की गति को रोक देना।

जब हम अपने प्राणवायु अर्थात् श्वास–प्रश्वास में ध्यान देते हैं तो हमारा ध्यान अपने ऊपर आ ही जाती है। अपने आप की वास्तविक स्थिति को सोच पाने में सक्षम हो जाते हैं।

प्राणायाम के बाद प्रत्याहार की बात की गई है। प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाना, इन्द्रियों का संयम ही प्रत्याहार है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती है, इन्हें संयमित करना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियाँ चित्तवृति के अनुरूप ही हो जाती है इसलिए जब साधक विवेक–वैराग्य आदि से अपने मन के ऊपर नियंत्रण कर लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है। प्रत्याहार के द्वारा साधक का इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की आसक्ति व्यक्ति को आत्म कल्याण के रास्ते से दूर हटाती है। एक–एक इन्द्रिय की आसक्ति मन को विचलित कर देती है। ऐसे में अपने आप को नियंत्रण में रखना बहुत कठिन प्रतीत होता है। प्रत्याहार जो कि अष्टांग योग का एक अंग है, आत्म नियंत्रण हेतु बहुत ही आवश्यक है।

जब हम प्रत्याहार को करने में सक्षम हो जायें तो सरलता से किसी विशेष बिन्दु पर चित्त को केन्द्रित कर सकते हैं। महर्षि पतंजलि के अनुसार ''देशबन्धः चितस्य धारणा'' अर्थात् चित्त को देश विशेष में बाँधना धारणा है। धारणा का विषय बाह्य पदार्थ भी ली जा सकती है। जैसे इष्ट देव की तस्वीर आदि। नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मूर्धाज्योति, भ्रूमध्य, ब्रह्मरन्ध्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि शारीरिक प्रदेशों में से किसी एक स्थान पर मन का निग्रह या एकाग्र होना भी धारणा कहलाता है। मन को एक प्रकार से स्थूल विषय से हटा कर सूक्ष्म लक्ष्य आत्मा–परमात्मा आदि पर केन्द्रित करने को भी धारणा कहा गया है। धारणा को करने से अर्थात् किसी विशेष स्थान पर चित्त को रखने से हमारा ध्यान नहीं भटकता है।

धारणा से संबंधित ध्यान है या कहें कि ध्यान धारणा का ही परिणाम है। जब हम किसी ध्येय वस्तु का निरंतर मनन करते रहें तो इसे ध्यान कह सकते हैं। ध्यान में एक समय में एक ही ज्ञान का प्रवाह होता है। इसमें केवल ध्येय विषय प्रकाशित होती है। अगर हम लगातार किसी विशेष विषय में ध्यान दें तो असाधारण शक्तियाँ प्राप्त होती है। नाभिचक्र, भ्रूमध्य या हृदय आदि में ध्येय रूप परमेश्वर में प्रत्यय एकतानता–ज्ञान का सदृशप्रवाह ध्यान है। जैसे जब नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती है तो समुद्र के साथ एकाकार हो जाती है, ठीक उसी प्रकार ध्यान के समय सच्चिदानन्द परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य विषय का स्मरण नहीं करना किसी अन्तर्यामी ब्रह्म के आनन्दमय, ज्योतिर्मय और शांतिमय स्वरूप में मग्न हो जाना ध्यान है। ध्यान हमारे व्यवहारिक जीवन से सदैव जुड़ा रहता है। भारतीय संस्कृति में ध्यान प्रत्येक क्रिया का पूरक होता था, और इसी के कारण आज भी हमारे माता–पिता कहते हैं कि ध्यान से पढ़ना, ध्यान से चलना, प्रत्येक कार्य को ध्यान से करना आदि। आज हम ध्यान की बात तो करते हैं, परन्तु

ध्यान क्या है, इसे नहीं जानते। ध्यान से ही हम सदा आनंदमय व शांतिमय जीवन जी सकते हैं।

ध्यान करने के पहले अगर प्राणायाम कर ली जाय तो मनपूर्ण शांत व एकाग्र हो जाएगा। शांत मन जब रहे तभी ध्यान संभव है।

अष्टांग योग का अंतिम अंग समाधि है। समाधि का अर्थ है जिस विशेष विषय पर ध्यान किया जा रहा है, उसपर चित्त की विक्षेप रहित एकाग्रता होना। ध्यान जब केवल अर्थ ध्येय (ईश्वर) के स्वरूप या स्वभाव को प्रकाशित करने वाला अपने स्वरूप से शून्य जैसा होता है तब उसे समाधि कहते हैं। महर्षि पतंजलि के अनुसार ''योगः समाधि'' अर्थात् योग ही समाधि है बतलाया गया है।

हम मानव उपर्युक्त अष्टांग योग को पूर्ण कर ले तो हम सम्पूर्ण रूप से अपने आप को नियंत्रित करने में सक्षम हो जाऐंगे। अब प्रश्न उठता है कि योग करना कैसे संभव है? हमें ज्ञात है कि, हम अपने व्यवहारिक जीवन में जो भी कार्य करते हैं उसे एक नियम के तहत करते हैं, जिससे हमें जीवन जीने में सुविधा होती है। ठीक उसी प्रकार योग को अपने दैनिक जीवन के नियमों के अन्तर्गत रखने से संभवतः अपने आप का कल्याण कर सकते हैं एवं दूसरों का भी कल्याण कर सकते हैं। जब हमें दूसरों के प्रति क्रोध आती है तो उस समय के लिए मौन हो जाना अति उत्तम है। अगर हम मौन हो जाते हैं तो निश्चित ही हमारा क्रोध भी मौन होने पर अर्थात् शांत होने पर विवश हो जाता है। इस मौन होने की क्रिया को हम मौन योग के अंतर्गत रखते हैं।

साधारणः हम अपने जीवन में कई ऐसे कार्य करते हैं जिसकी कोई अर्थ ही नहीं होती। अर्थात् कोई लक्ष्य ही नहीं होती। ऐसे में योग करने से हमें अपने लक्ष्यों का स्मरण होता है और हम लक्ष्यों के प्रति उन्मुख होकर कार्य करना प्रारंभ कर देते हैं। प्रश्न है योग कैसे किया जाय ? अर्थात् सभी कार्यो का कोई नियम होती है, तो क्या योग का भी कोई नियम है, हाँ हम कह सकते है कि योग करने की भी नियम है। जिसे नियमानुसार करने से लाभ है अन्यथा फिर केवल हानि ही महसूस होती है। कहा गया है– *''जैसा खाओ अन्न वैसा होगा मन''*। ठीक इसी प्रकार से योग को व्यवहारिक जीवन में एक अटल कार्य समझ लिया जाय जिसे प्रतिदिन करना ही है, तो सम्भवतः हम अपने आप को नियंत्रित करने में सक्षम हो जाऐंगे।

प्रकृति की सारे कार्यो का प्रारंभ बायें से होती है। अगर हम सुबह सो कर उठते समय बायें करवट लेकर उठे तो संभवतः हम कभी बीमार न होने की स्थिति में रहेंगे। उठने या लेटने की क्रिया भी योग ही है। इसे करने के लिए कोई अलग से समय देने की आवश्यकता नहीं है। ठीक इसी प्रकार हमारे व्यवहारिक जीवन में कई ऐसे कार्य हैं जो नियमतः किया जाय तो योग के अंतर्गत ही आ जायेगा। यम और नियम के अंतर्गत जो कार्य है वे हमारे व्यवहारिक जीवन से संबंध रखता है। हमें ज्ञात है योग के अनेकों प्रकार है जैसे – ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, प्रेमयोग, हठयोग, राजयोग आदि। ऐसे में जब हम किसी से प्रेम करें तो यह भी एक योग के ही अंतर्गत आएगा। बस हमें ध्यान देने की आवश्यकता है कि, हम किसी प्रकार किसी भी कार्य को करते हैं तो उसे नियमतः करे जिससे सम्भव है कि कम से कम त्रुटियाँ होगी और फलतः हम अपने को नियन्त्रित करने में सक्षम हो जायेंगे।

अतः हम कह सकते हैं कि आत्म नियंत्रण के लिए योग की महत्ता है, क्योंकि जबतक हम अपने जीवन में योग नहीं करते तबतक हम कोई कार्य करने में सक्षम नहीं होते। हमें ज्ञात है कि, कर्म भी एक प्रकार का योग ही है, बस हमें अपने कार्यो के प्रति सावधानियाँ रखनी चाहिए, फिर हम अपने को नियन्त्रित रखकर जीवन भर खुश रह सकते हैं। इस प्रकार आत्म नियंत्रण में योग का योगदान है।

निष्कर्ष

योग के विषय में अनेक ग्रंथों में ज्ञान दी गई है किन्तु उसे पढ़कर नहीं बल्कि व्यवहार में लागू करके जाना एवं समझा जा सकता है। योग को हम जितना व्यवहार में लाते है, उतना ही योग को स्पष्ट रूप से जान पाते हैं। जब हम योग में होकर आत्म–चिन्तन, मनन करते हैं तब हम स्वयं को नियंत्रण करने में सक्षम हो जाते हैं, हमें अपनी अच्छाई एवं बुराई सारा कुछ स्पष्ट ज्ञात होती है। जैसे–जैसे हम योग के द्वारा ध्यान, साधना में जाते हैं हम स्वयं

को बेहतर ढंग से जान पाते हैं जिसके कारण हमें किस कार्य में गति लानी है एवं किस कार्य में रोक लगानी है स्पष्ट ज्ञात होता है और वैसा ही हम करते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप हमारे आचरण में सुधार होने लगती है, हम स्वयं पर नियंत्रण कर पाने में सक्षम हो जाते हैं। अतः योग को आत्म–नियंत्रण हेतु आवश्यक रूप से अपनाना चाहिए जिसके अपनाने से हमारे व्यक्तित्व का निखार होता है। इस प्रकार आत्म–नियंत्रण में योग का काफी योगदान है।

संदर्भ सूची

1. स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, *व्यक्ति का विकास,* रामकृष्ण आश्रम मार्ग धन्तोली, नागपुर 29.11. 2001
2. तिवारी, जटा शंकर, *समाज धर्म एवं दर्शन,* श्री भुवेनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान 117 सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद–211002
3. स्वामी परमानन्द, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, *मौन योग,* रामकृष्ण आश्रम मार्ग धन्तोली, नागपुर– 440012, 6.3. 2001
4. स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, *भक्तियोग,* रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर– 440012, 23. 2.1947
5. स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, *प्रेमयोग,* रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर– 440012, 1 अक्टूबर 1936
6. स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, *कर्मयोग,* रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर– 440012, 25.5. 1950
7. स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, *ज्ञानयोग,* रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर– 440012, 15.3. 1987
8. स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, *राजयोग* (पातंजल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित) रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली, नागपुर– 440012 15 जून 1949
9. योगी आदित्यनाथ, *हठयोग स्वरूप एवम् साधना,* श्री गोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर (उ०प्र०), अक्षय तृतीया सम्वत् 2064 वि०, तदनुसार 20 अप्रैल 2007, गोरखपुर, मुद्रक– सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, N-3/25, मोहन गार्डन, उत्तम नगर, नई दिल्ली 110059, द्वारा भारत प्रेस नारायणा, फेस 2, नई दिल्ली

****

SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

शोधसमागम®

आलोचना की आत्मकथा

मनोज कुमार सिंह, (Ph.D.) हिंदी विभाग
पूर्णियाँ विश्वविद्यालय, पूर्णियाँ, बिहार, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Corresponding Author
मनोज कुमार सिंह, (Ph.D.) हिंदी विभाग
पूर्णियाँ विश्वविद्यालय, पूर्णियाँ, बिहार, भारत

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 01/03/2021
Revised on : -----
Accepted on : 08/03/2021
Plagiarism : 00% on 01/03/2021

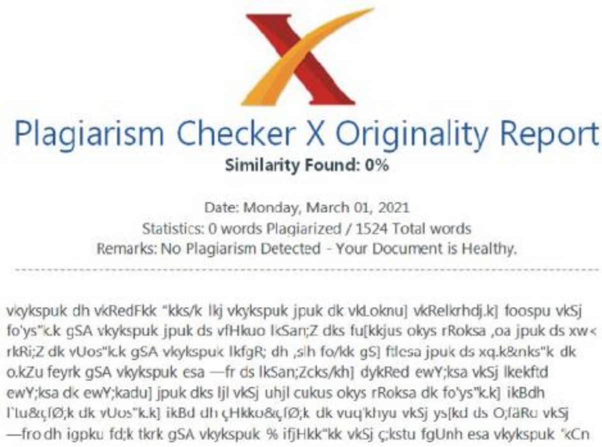

शोध सार

आलोचना रचना का आस्वादन, आत्मसतीकरण, विवेचन और विश्लेषण है। आलोचना रचना के अभिनव सौंदर्य को निखारने वाले तत्वों एवं रचना के गूढ तात्पर्य का अन्वेषण है। आलोचना साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिसमें रचना के गुण–दोष का वर्णन मिलता है। आलोचना में कृति के सौंदर्यबोधी, कलात्मक मूल्यों और सामाजिक मूल्यों का मूल्यांकन, रचना को सरस और नीरस बनाने वाले तत्वों का विश्लेषण, पाठकी सृजन–प्रक्रिया का अन्वेषण, पाठक की प्रभाव–प्रक्रिया का अनुशीलन और लेखक के व्यक्तित्व और कृतिव की पहचान किया जाता है।

मुख्य शब्द

आलोचना, साहित्य, आलोचना विश्लेषण.

आलोचना : परिभाषा और प्रयोजन

हिन्दी में आलोचना शब्द का जो अभिप्राय है, वही अंग्रेजी में Criticism शब्द का अर्थ है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी के शब्द 'आलोचना' के लिए बंगला में समानार्थी शब्द है 'समालोचना, तो मराठी में उसे 'टीका', कन्नड़ में 'टीके' और तमिल में 'विमर्शनम्' कहते हैं। अन्य ऐशियाई भाषा चीनी में आलोचना के लिये शब्द है 'पीपींग' और जापानी में 'हिहान' शब्द है। हिन्दी का शब्द 'आलोचना' के लिये रुसी में 'कृस्तिका', अंग्रेजी में 'क्रीटिसिज्म' और फ्रेंच में 'क्रीटिक' है। 'आलोचना' साहित्य की एक पारिभाषिक शब्दावली है। विकिपीडिया में आलोचना को परिभाषित करते हुए लिखा गया है –"किसी वस्तु या विषय की, उसके लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उसके गुण–दोषों एवं उपयुक्तता का विवेचन करने वाली साहित्यिक विधा है।"[1]

आलोचना कृति की सर्जनगत मौलिकताओं की व्याख्या करती है। आलोचना कृति के आस्वादन में सहायता

करती है और कृति के कौशल की पहचान कराती है। आलोचक रचना के शब्दों की रचना–विधि की बारीकियों का भलीभॉति विवेचन करती है। रचनाकार के शब्दार्थ उपयोग की बारीकियों, विशिष्टताओं और विशेषताओं की पहचान कराना आलोचना है। सर्जक के मन्तव्य, उद्देश्य और संदेश के संग प्रयुक्त माध्यमों भाषा, बिम्ब, प्रतीक, छन्द, अलंकारादि की उपयुक्तता, औचित्य का निर्धारण आलोचना है।

आलोचना रचनागत विषय वस्तु का तदवत्दर्शन करती है। रचनाकार की कल्पना पर रीझती है और उसकी सुक्ति की अनोखी सूझ पर मोहित होती है। रचना के सौंदर्य परक तत्वों का आत्मसातीकरण करते हुए, कृति के कौशल की पहचान करते हुए काव्य संवेदना का आस्वादन करती है। रचना का सहृदयता पूर्वक भावन ही रसास्वादन है। तत्पश्चत् परीक्षण और विश्लेषण का कार्य होता है। रचना के सामाजिक–सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों एवं मानों की तलाश करना आलोचना है। फिर कृति में निहित मूल्यों और मानों का मूल्यांकन करते हुए साहित्य परंपरा में कृति का स्थान निरुपण करती है। इस तरह आलोचना के बहाने सभ्यता–समीक्षा होती है।

भारतीय मनीषियों ने रचना को कारयित्री प्रतिभा और आलोचना को भावयित्री प्रतिभा के रुप में पहचाना है। रचनाभावों, विचारों और इन्द्रियबोधों का संश्लेषण है तो आलोचना उसका विश्लेषण। श्यामसुंदर दास का कहना है– ''यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या माने तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पडेगा।''[2]

आलोचना चिंतन परक साहित्यिक विधा है, क्योंकि यह एक बौद्धिक क्रिया–व्यापार है। नामवर सिंह कहते हैं– ''आलोचना अपने समय की बौद्धिकता की उपस्थिति है।'[3] अध्ययन, चिंतन–मनन और विश्लेषण हेतु तार्किकता जरुरी है। रमेश कुन्तल मेघ आलोचना को 'कलात्मक विचार' मानते हैं। राममूर्ति त्रिपाठी लिखते हैं. 'बौद्धिक वैभव के प्रदर्शन का मानवीय स्वभाव शास्त्र निर्माण की प्रेरणा देता है।'[4] त्रिपाठीजी शास्त्र को बौद्धिक वैभव का प्रदर्शन मानते हैं। इतना तो तय है कि आलोचना के लिए बौद्धिक कौशल होना चाहिए साथ ही आलोचक में रसानुभूति की क्षमता भी होनी चाहिए। देवराज 'आलोचना को रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या' मानते हैं। रमेश कुंतल मेध आलोचना के कार्यों में किसी युग के सौंदर्यबोध की, प्रकृति वर्णन की, पात्रों की, सृष्टि की, मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों की, वर्णन की शैली और अभिव्यंजना प्रकारों की, सामाजिक समस्याओं तथा सहृदयों के रूचियों की विवेचना करना मानते हैं।''[5]

मैनेजर पाण्डेय अपने आलेख 'अडोर्नो और आलोचना की संस्कृति' में लिखते हैं– ''आलोचना मानव–चेतना की स्वतंत्रता का लक्षण है और प्रमाण भी, और उसकी रक्षा मनुष्य की स्वतंत्रता का अनिवार्य शर्त है।''[6]

आलोचना के विषय में माला रविन्दम चतुर्वेदी अपने आलेख कवि और सामाजिक दायित्व में कहते है., 'आधुनिक आलोचना अर्थ और अनुभव की सूक्ष्म अद्वैत प्रकिया को समझने का उपक्रम है।' उनका कहना है कि 'आधुनिक साहित्य चिंतन अर्थ को एक और स्थिर रुप में न मानकर बहुस्तरीय और विकासशील मानता है।'[7]

प्रायोजन

1 आलोच्य कृति का विश्लेषण

आलोचना कृति विशेष को रसमय अथवा नीरस बनाने वाले उपादानों की ओर संकेत करती है और समुचित दृष्टिकोण से उस कृति का मूल्यांकन करती है। वह कृति के सौंदर्य को बढ़ाने वाले और घटाने वाले कारकों का विश्लेषण और मूल्यांकन करता है। समीक्षक का कार्य रचना के मूल संदेश और उसकी रचना.–प्रक्रिया को उद्घाटित करना है। 'रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदंड' में डॉ. रामरतन भटनागर आलोचक के कार्य को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं– ''कलाकृति के पीछे जो जीवन संदेश या तथ्य स्थापना है, उसमें कलाकार का जो स्वप्न मूर्तिमान हुआ है, उसमें अभिव्यंजना के जिन नये साधनों का उसने प्रयोग किया है और इन विभिन्न उपकरणों में वह जिस प्रकार संतुलन स्थापित करने में समर्थ हुआ है.ये समीक्षक के महत्वपूर्ण विषय हैं। समीक्षाक्रम में समीक्षक उस कृति की तुलना अन्य कृतियों से करता है तथा परंपरा और युग संदर्भ को रेखांकित करते हुए उसका मूल्य–निर्धारण करता है।''[8]

2 कृति का मूल्यांकन करना

रचना की सामाजिक अस्मिता और सार्थकता तथा उसके रचनात्मक प्रभाव एवं अभिप्राय की पडताल करते हुए उसके सौंदर्य एवं मर्म को पहचानने का प्रयास ही आलोचनाकर्म है। कृतियों के निर्माण में प्रवृतियों और कौशलों की पहचान करना और साहित्य के प्रतिसंवेदनशील सजगता एवं साहित्यिक विवेक पैदा करना आलोचना का काम है।

'भारतेन्दु युगीन आलोचना की शब्दावली और उसका रचना संदर्भ' में रामचंद्र तिवारी लिखते हैं : ''आलोचक रचनाकार की अंर्तयात्रा का साक्षी होता है। वह रचना में अपनी संपूर्ण संवेदनशीलता एवं बौद्धिक क्षमता के साथ प्रवेश करता है। उसके रचनात्मक उपादानों के संश्लिष्ट संघटनात्मक वैशिष्ट्य को पहचानता और उसका रागात्मक साक्षात्कार करता है, इसके बाद जब वह उसके मर्म का उद्घाटन, सौंदर्य का विवेचन और मूल्य का आंकलन करता है तो स्वयं एक नई रचना कर देता है।''[9] रामचंद्र तिवारी आलोचना को रचना के समतुल्य रखते हैं। उनके अनुसार आलोचना का काम है रचना के मर्म का उदघाटन, उसके सौंदर्य का विवेचन और उसके मूल्य का आकलन करना। इस क्रम में वे आलोचना के पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करता है। उनके अनुसार 'किसी भी युग में प्रयुक्त आलोचना के पारिभाषिक शब्द उस युग की वैचारिक मनोभूमि के निदर्शक होते हैं।'[10]

आलोचना रचना की अनुकृति मात्र नहीं है, बल्कि रचना के सर्वागीण सौंदर्य के रेशे–रेशे को व्याख्यायित करने वाली आलोचना में रचना की भविष्य दृष्टि भी झलकती है। आलोचना को रचना से भी आगे जाना चाहिए। आलोचना को इतिहासबोध, विश्वबोध सम्पन्न दृष्टि वाला होना चाहिए।

3 पाठकों की रूचि का परिष्कार

डॉ. देवराज आलोचना के कार्यों का उल्लेख करते लिखते हैं. 'आलोचना का मुख्य काम आलोच्य–कृति की चेतना. विकासी व्याख्या प्रस्तुत करना है। चेतना विकास का अर्थ है। मनुष्य की संवेदनशीलता, वैचारिक उर्जा और आत्मिक उन्नति। मानवीय संवेदना को जीवंत रखना, उसमें प्रेम, दया, ममता, करूणा, वीरता आदि भावों को उत्प्रेरित करना रचना और आलोचना का प्राथमिक दायित्व है। भारतीय साहित्य दर्शन और काव्यशास्त्रीय मीमांसा में 'रसवाद' और 'आनन्दवाद' की महत्ता इसलिए है कि वह मानवीय संवेदना को जीवंत रखता है। रस और उसके स्थायी भावों की व्याख्या मूलतः हृदयगत है। श्रृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, करूण सहित सभी नवरस मानव हृदय में स्थायीभाव से मौजूद है, जिसे साहित्य–रचना और आलोचना उत्प्रेरित कर सजग बनाये रखता है। यही संवेदनात्मक सजगता उसकी चेतना के विकास का कारण बनता है। मानव चेतना के विकास में रचना और आलोचना की प्रभावकारी भूमिका होगी तो ही वह श्रेष्ठ कहलाएगी।

आलोचक की पहचान बताते हुए नामवरसिंह का कहना है कि 'आलोचक वह है जो कविता की भावधारा तक आपको पहुँचा दे। पाठक इसके बाद अर्थ स्वंय ग्रहण करेगा।'[11] उन्होंने संस्कार, विचारधारा और पूर्वग्रह को कविता की भावधारा तक पहुँचने में बाधक माना है और आलोचना का यह दायित्व बनता है कि पाठक को कविता की भाव धारा तक पहुँचने में सहायता करे।

नामवरसिंह आलोचना के दायित्व का दर्शन कराते लिखते हैं – ''आलोचना का एक काम है, इतिहास का, परंपरा का मर्म समझना–समझाना और उसे आगे की पीढ़ियों के बीच जीवित रखना।''[12] आलोचना का काम युग के प्रमुख अन्तर्विरोधों को रेखांकित करना है। समाज के विकासमान शक्तियों की पहचान कराना भी आलोचना का काम है। साहित्य सामाजिक–वैचारिक परिवर्तन के लिए जरुरी है।

निष्कर्ष

भारत एक लोकतांत्रिक देश है। नामवरसिंह आलोचना को लोकतांत्रिक प्रक्रिया को तेज करने के दायित्व से जोड़ते हैं। उनका कहना है कि 'समाज को लोकतांत्रिक बनाने की दिशा में प्रेरित करें, यह आलोचना का बहुत बड़ा दायित्व है।'[13] परंपरा की रक्षा का दायित्व आलोचना का है। लोकतांत्रिक समाज और राष्ट्र में आलोचना का दायित्व और जबाबदेही बढ़ जाती है। हृदयनारायण दीक्षित अपने आलेख में लिखते हैंः ''रचनात्मक आलोचना ही राष्ट्र की सिद्धि और समृद्धि में सहायक होती है। रचनात्मक आलोचना राष्ट्र और समाज का ही आत्मोद्घाटन होती है। वह

सुस्थापित तथ्यों को और मजबूत करने के नये तथ्य देती है। संदेहों का निवारण करती है और गलती सुधारने का अवसर भी देती है। ऐसी आलोचना वाली असहमति भी सौंदर्यपूर्ण होती है। लोकतंत्र में ऐसी असहमति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।''[14] किसी भी समाज और राष्ट्र की समृद्धि में आलोचना की भूमिका होती है। यह आलोचना स्थापित विचार के समक्ष विकल्प और पूरक विचार को प्रस्तुत करती है। विचार का वैकल्पिक पक्ष प्रस्तुत करने वाली आलोचना लोकतंत्र को मजबूत करती है। सुस्थापित सत्यों और तथ्यों के सही विकल्प प्रस्तुत कर आलोचना अपना नैतिक कर्तव्य निभाती है और ऐसी ही आलोचना को हम रचनात्मक आलोचना कह सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. वीकिपीडिया
2. दास, श्यामसुंदर, *साहित्यालोचन,* पृ0 18।
3. सिंह, नामवर, *हिन्दी आलोचना की परंपरा* ।
4. त्रिपाठी, राममूर्ति, *आलोचना सिद्धांत,* पृ0 18।
5. कुंतलमेघ, रमेश, *साहित्य सृजन और आलोचना सिद्धांत,* पृ0 28।
6. मैनेजर पाण्डेय, *अडोर्नो और आलोचना की संस्कृति,* पृ0206।
7. चतुर्वेदी, माला रविन्दम्, *कवि और सामाजिक दायित्व,* पृ0 126।
8. भटनागर, रामरतन, *'रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदंड',* पृ0 38।
9. तिवारी, रामचंद्र, *भारतेन्दु युगीन आलोचना की शब्दावली और उसका रचना संदर्भ'।*
10. उपरोक्त
11. नामवर सिंह, *हिन्दी आलोचना की परंपरा* ।
12. उपरोक्त पृ0 143।
13. उपरोक्त।
14. हृदयनारायण दीक्षित

****

SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

श्री लाल शुक्ल के ''राग–विराग'' उपन्यास में सामाजिक जटिलता का विश्लेषण

हिना केशरवानी, शोध छात्रा, हिंदी विभाग
उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, भारत
गोरख नाथ पांडेय, (Ph.D.), हिंदी विभाग
उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Corresponding Author
हिना केशरवानी, शोध छात्रा, हिंदी विभाग
उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, भारत
गोरख नाथ पांडेय, (Ph.D.), हिंदी विभाग
उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, भारत

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 02/03/2021
Revised on : -----
Accepted on : 09/03/2021
Plagiarism : 01% on 03/03/2021

शोध सार

एक जागरूक साहित्यकार अपने समाज में व्याप्त विसंगतियों, विडंबनाओं, जटिलताओं परम्पराओं संस्कृति आदि का साक्षी होता है और उन्ही में से अपने रचना कर्म के लिए कथ्य चुनता है श्री लाल शुक्ल जी अपने परिवेश और समाज को पैनीय दृष्टि से देखते है। बेहद सरल और बेहद गूढ़ दोनों ही तरह के विषयों को उन्होंने अपनी रचनाओं में उठाया है। प्रस्तुत शोध पत्र में सामाजिक जटिलताओं के विश्लेषण को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

मुख्य शब्द

विराग, बेसिक कल्चर, ओढ़ी हुई कल्चर, जाति–पाति, अमीरी–गरीबी.

श्री लाल शुक्ल हिन्दी के बहुविध साहित्यकार होने के साथ प्रसिद्ध उपन्यासकार भी है। उन्होंने अपने जीवन काल मे नौ उपन्यासों की रचना की। वे अपनी बेधक दृष्टि से समाज के हर कोने को टटोलने का प्रयास करते है। वे ऐसे रचनाकार है जो अपने विषय का चुनाव समाज की जटिलताओं से करते हैं। 'सूनी घाटी का सूरज' से लेकर 'राग दरबारी', 'मकान', 'पहला पड़ाव' से होते हुए 'विस्रामपुर का संत' तक उन्होंने अपनी सूक्ष्म और बेधक दृष्टि का परिचय दिया। इसी तरह अपने लेखन कार्य को बढ़ाते हुए अगली कड़ी के रूप में इनका आखिरी उपन्यास 'राग विराग' को देखा गया। 'राग विराग' जैसा कालजयी उपन्यास लिखकर शुक्ल जी हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध हुए।

श्री लाल शुक्ल ने 'राग विराग' उपन्यास में प्रेम कथा के माध्यम से सामाजिक जटिलता के विभिन्न रूपों, स्तरों को उजागर करने का प्रयास किया है। इस उपन्यास

में बाह्य सौंदर्य से भी अधिक आंतरिक सौंदर्य पर महत्व दिया गया है। शुक्ल जी के इस उपन्यास में ब्यापक अनुभव, सुंदर कल्पना शक्ति तथा दृष्टि तीनों का संगम दिखाई देता है। अखिलेश ने 'राग विराग' उपन्यास के बारे में कहा है ''यह उपन्यास प्रसन्नता और अवसाद, लगाव और अलगाव, गाँव–शहर, देश–परदेश, राग–विराग, बेसिक कल्चर और ओढ़ी हुई कल्चर, दारिर्द्य–अमीरी के फर्क और संघर्ष की कथा है।''[1] उपन्यास पढ़ने के बाद यह ज्ञात होता है कि अखिलेश द्वारा लिखी गयी यह टिप्पणी एकदम सटीक है। इसके पूर्व के उपन्यासों में शुक्ल जी ने सामाजिक जटिलता को लेकर जो बात कही, यहाँ ठीक उसके विपरीत चीजों को उजागर करने का प्रयास किया। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों के पात्रों को व्यंग्य बाण से आहत करते हुए और उनका मजाक उड़ाते हुए शुक्ल जी दिखाई देते थे परन्तु इस उपन्यास (राग–विराग) में उन्होंने एकदम अलग तरीके से पात्रों, घटनाओं और उनके द्वंदों को तटस्थ और निर्मम करते हुए दिखाई दिये। इस उपन्यास की बिषय वस्तु भले ही छोटी रही हो परंतु रचना दृष्टि से एकदम नयापन है।

सुप्रसिद्ध कथाकार श्री लाल शुक्ल की रचना शीलता का नव्यतम और विशिष्ट पड़ाव है– 'राग विराग'। प्रेमकथा के ताने–बाने से बुना गया यह लघु उपन्यास सामाजिक जीवन की अनेक जटिलताओं से टकराते हुए जति, वर्ग, संस्कृति, बाजारवाद आदि के अनेक धूसर चटक रंग उपस्थित करता है। सम्भवतः राग–विराग हिंदी का पहला ऐसा उपन्यास है, जो प्रेमकथा के जरिए हमारे उबड़–खाबड़ राष्ट्रीय यथार्थ का पाठ प्रस्तुत करता है। इसलिए प्रेमकथा की रूढ़ियों को जबरदस्त ढंग से ध्वस्त करती हुई यह रचना प्रेम कथा की नई संभावनाओं और सामर्थ्य का दृष्टांत बन जाती है।

आकार की दृष्टि से यह उपन्यास भले ही छोटा है परंतु विषय की दृष्टि से वह 'नाविक के तीर' जैसा है। इस उपन्यास में सामाजिक जटिलता को दर्शाने के लिए शुक्ल जी ने प्रेम का सहारा लिया। प्रेम का जो रूप शुक्ल जी ने यहाँ दर्शाया है वह रूप उनके पूर्व उपन्यासों में देखने को नहीं मिलता। बद्री–बेला, सत्या–रामदास, विवेक–सुंदरी, विमल–चांद सबके सब राग विराग के शंकर सुकन्या वाले प्रेम से परे हैं। शुक्ल जी जिस समाज के जटिल संरचना को तोड़ने में लगे हुए थे उसके लिए प्रेम का यह स्वरूप दिखाना अत्यंत आवश्यक है।

जातीय और वर्गीय जटिलता समाज में दीमक के रूप में लग कर उसे अंदर ही अंदर खोखला बना रही है। समाज में लगे इस प्रकार के दीमक को खत्म करने के लिए शुक्ल जी ने प्रेम का सहारा लिया है। इस उपन्यास में शुक्ल जी ने भारतीय समाज के उतार–चढ़ाव को दर्शाते हुए जाति एवं वर्ग के द्वन्द को स्पष्ट करने का प्रयास किया। उपन्यास के आरंभ में ही उन्होंने ऐसे दृश्य को दिखाया जिसमें वर्गीय चेतना के द्वन्द को उभारा गया है। सांस्कृतिक बंटवारे के आधार पर शहर दो वर्गों में बटा हुआ दिखाई देता है। जहाँ एक वर्ग शोरगुल में जीते हुए सफलता की लालसा मन में रखता हुआ सोचता है कि ''निरर्थक भीड़ जो सब कुछ के बावजूद कहीं किसी सार्थकता की तलाश में है।''[2] वही दूसरा वर्ग शांत और सुखमय दशा का हाल सुनाता है इन्हीं दोनों वर्ग के द्वन्द को उकेरना शुक्ल जी का प्रमुख उद्देश्य है। वह कहीं जाति के रूप में संघर्षरत दिखाई देते हैं वर्ग के रूप में।

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का बोलबाला रहा है। समय के साथ बदलाव होने के बावजूद भी आज ग्रामीण इलाकों में कहीं–कहीं जाति व्यवस्था देखी जाती है और शिक्षकों के साथ आज पढ़े–लिखे लोग भी इसे मानते हैं। सुकन्या के पिता कर्नल भारद्वाज इसी मानसिकता के व्यक्ति हैं। वे शिक्षित होकर भी ऐसी संकीर्ण मानसिकता को नहीं त्याग पाते हैं। जब सुकन्या पापा से बताती है कि शंकर मुझसे दस साल बड़ा है तो उसके पापा कहते हैं कि ''उसकी जाति क्या है? शेड्यूल्ड कास्ट तो नहीं है। ज्यादातर इन्हीं जातियों के लड़के बूढ़े होकर एम.बी.बी.एस में दाखिले दाखिल होते हैं''[3] उपन्यासकार का मानना है कि जाति व्यवस्था कैंसर जैसी बीमारी है जो आखिरी स्टेज पर भी अपना नया रूप ग्रहण कर लेती है। जाति व्यवस्था में भले ही बदलाव आया हो परंतु से एकदम से कभी नहीं खत्म किया जा सकता है।

जाति व्यवस्था पर पिता से बहस करती हुई नई पीढ़ी की सोच वाली सुकन्या कहती है ''मुझे पता नहीं और मुझे पता चलेगा भी नहीं क्योंकि उससे या किसी से भी मैं पूछ नहीं पाऊंगी। मैं जानना भी नहीं चाहती मेरे लिए

जाति का सवाल निरर्थक है"[4]। नई पीढ़ी एक तरफ तो जाति व्यवस्था में अरुचि दिखाती हैं। वही समाज में फैली हुई वर्ग व्यवस्था का समर्थन भी करती है।

शंकर और सुकन्या नयी पीढ़ी के युवा है। वह अपने नए विचारों के साथ जीवन जीते हैं उनके लिए जाति पात का वर्ग भेद कोई मायने नहीं रखता है परंतु सुकन्या जाति व्यवस्था के बंधन को भले ही अस्वीकार करती है पर वह वर्ग व्यवस्था से अपने आपको अलग नहीं कर पाती है। वह शंकर के अशिक्षित और सामाजिक परिवार के साथ सामंजस्य बैठा पाने की कल्पना मात्र से ही विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। जब सुकन्या की मौसी उससे पूछती है कि तुमने ऐसा क्यों किया? तब वह जवाब देती है कि "मैं 17 साल की प्रेम दीवानी लड़की नहीं हूँ। संसार और समाज को कुछ हद तक समझ चुकी हूँ। मैं जानती हूँ किस भारतीय समाज में विवाह दो व्यक्तियों के बीच नहीं होता उन दोनों से जुड़े पूरे माहौल के बीच होता है जिसमें दोनों के परिवार उनके परिवेश उनकी कल्चर और विश्वास सभी को शामिल है। शंकर को और उसके पूरे परिवेश को जान लेने के बाद मेरी उत्कंठा मर चुकी है मैं उस परिवेश से समझौता नहीं कर पाऊंगी।"[5] यहां उपन्यासकार दिखाना चाहते हैं कि आज की स्त्री की सोच क्या है वह पिछड़ेपन तथा जीवन के यथार्थ को स्वीकार नहीं कर पाती।

शंकर और सुकन्या दोनों के बीच सामाजिक हैसियत और सामाजिक परिवेश का अंतर होने की वजह से दोनों एक दूसरे के करीब नहीं आ पाते। समय और परिस्थितियां दोनों को एक दूसरे के अतीत का परिचय कराती हैं। जिससे शंकर और सुकन्या का अनजाने में पल रहा राग, विराग में बदल जाता है। शंकर के लिए सुकन्या का अतीत उसके पिता कर्नल भारद्वाज है। जिसके कारण शंकर के पिता की मृत्यु हुई और सुकन्या के लिए शंकर का अतीत उसका गांव, टूटी झोपड़ी और अशिक्षित परिवार है। शंकर सुकन्या को अपनाना चाहता है परंतु उसका अतीत उसे अपनाने की इजाजत नहीं देता वह सुकन्या से कहता है "तुम मेरे साथ चलोगी जरूर पर तुम्हारे पीछे एक क्रूर पिता की परछाई भी चलेगी।[6] वह ऐसा इसलिए कहता है कि जब शंकर के पिता की हालत गंभीर हुई तो वह पड़ोसी गांव हरचंदपुर के डॉक्टर को रात में बुलाने जाता है। परंतु इंसानियत के भी हैसियत से डाक्टर नहीं आते जिसके कारण उसके पिता की मृत्यु हो जाती है। वह डॉक्टर कोई और बल्कि सुकन्या के पिता भारद्वाज है। जब शंकर सुकन्या के घर जाता है तो उसके पिता भारद्वाज को देखकर वह आश्चर्यचकित होता है अतीत कि यादें एक बार फिर उसकी स्मृति में ताजा हो उठती है।

'राग विराग' उपन्यास में 'बेसिक कल्चर' और 'ओढ़ी हुई कल्चर' को शुक्ल जी ने कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। यहां पर बेसिक कल्चर के रूप में शंकर के दोस्त सूरज को रखा गया है। शंकर सुकन्या के सामने सूरज के बेसिक कल्चर की सराहना करता है परंतु सुकन्या को सूरज एक गंदा और फूहड़ व्यक्ति लगता है। उसे लगता है सूरज को न बात करने की तमीज है न उठने बैठने की तरीका है। सुकन्या के हिसाब से जो व्यक्ति अपने रोजमर्रा के कार्य को नियमित रूप से करता है वही बेसिक कल्चर है। जो गांव के सामान्य व्यक्ति के समझ में नहीं आ सकता। सुकन्या इस प्रकार के द्वंद के साथ जीते हुए 14 साल बिता देती है। तब एक दिन अचानक सूरज से अस्पताल में उसकी भेंट होती है। वह अपनी बहू को लेकर आया है और उसके उत्तम स्वास्थ्य के लिए, बहू की जिंदगी के लिए डॉक्टर से गिड़गिड़ा रहा है। तब सुकन्या को एहसास होता है कि यही बेसिक कल्चर है। ओढ़ा हुआ कल्चर तो बनावटी और खोखला होता है।

पत्नी, बहू, पोते के साथ सूरज भाई के वापस चले जाने के बाद सुकन्या को अनुभव होता है कि "जिसका जिक्र शंकरलाल बार–बार करता था वह बेसिक कल्चर यही है।[7] जिस समाज में नारियों की हैसियत घास–पात जैसी हो और सभ्य माने जाने वाले परिवारों में भी जहाँ बहुओं को दहेज में एक टेलीविजन तक के लिए जला दिया जाता है वही यह बूढ़ा अपनी बहू की प्राण रक्षा के लिए जिस तरह कलप रहा था वह भावना 'सामाजिक शिष्टाचार' जैसी किताबें पढ़कर नहीं हासिल की जा सकती।

सुकन्या को जब तक इन सब चीजों का ज्ञान होता तब तक उसका जीवन खत्म हो चुका था। वह व्यक्तिगत स्वार्थ, झूठी शान, और वर्गीय सामंजस के कारण ही वह शंकर को छोड़ती है परंतु वह वही सामंजस्य अपने वर्ग

के सुबीर गांगुली से नहीं बिठा पाती। सुबीर और सुकन्या की शादी भले ही हो जाती है पर वह पति–पत्नी के रूप में जीवन निर्वाह नहीं कर पाते क्योंकि सुबीर शराब बहुत पीता है और वह शराब के नशे में सुकन्या को प्रताड़ित भी करता है। जिस कारण दोनों का तलाक हो जाता है। तलाक के बाद सुबीर सुकन्या को नहीं छोड़ता है वह जहां– जहां जाती है सुबीर पीछे–पीछे वहां पहुंचकर अपना अधिकार जमाता है। एक दिन अचानक बालकनी से गिरकर सुबीर की मृत्यु हो जाती है इस घटना के बाद सुकन्या बेसिक कल्चर और ओढ़ी हुई कल्चर के अंतर को समझ जाती है।

निष्कर्ष

समाज में रहकर ही व्यक्ति सामाजिक विषमताओं और जटिलताओं के साथ अपना जीवन व्यतीत करता है। इन विसंगतियों और जटिलताओं के होते हुए व्यक्ति में असंतोष होना स्वाभाविक है। किन्तु जिस व्यक्ति में उस असंतोष को स्पष्टीकरण करने की क्षमता है वह रचनाकार होता है। शुक्ल जी ऐसे ही सुप्रसिद्ध रचनाकार है, उन्होंने सामाजिक जटिलताओं को जड़ तक पहुंचाने का काम किया है और उसके निदान के लिए अपनी कलम का सहारा लिया है। शुक्ल जी की ग्रामीण–शहरी, अमीरी–गरीबी, जाति–वर्ग, धर्म–अर्थ, राजनीतिकरण, बाजारीकरण आदि की जानकारी है। वे सामाजिक संरचना के परिवर्तन से होने वाली समस्याओं की गहराई से समझते हैं।

संदर्भ सूची

1. शुक्ल, श्री लाल, *राग–विराग,* अखिलेश का वक्तव्य, फ्लैप पृष्ठ से।
2. शुक्ल, श्री लाल, *राग–विराग,* किताबघर प्रकाश, नई दिल्ली संस्करण 2006, पृष्ट संख्या 5।
3. शुक्ल, श्री लाल, *राग–विराग,* किताबघर प्रकाश, नई दिल्ली संस्करण 2006, पृष्ट संख्या 7।
4. शुक्ल, श्री लाल, *राग–विराग,* किताबघर प्रकाश, नई दिल्ली संस्करण 2006, पृष्ट संख्या 7।
5. शुक्ल, श्री लाल, *राग–विराग,* किताबघर प्रकाश, नई दिल्ली संस्करण 2006, पृष्ट संख्या 38,39।
6. शुक्ल, श्री लाल, *राग–विराग,* किताबघर प्रकाश, नई दिल्ली संस्करण 2006, पृष्ट संख्या 50।
7. शुक्ल, श्री लाल, *राग–विराग,* किताबघर प्रकाश, नई दिल्ली संस्करण 2006, पृष्ट संख्या 97।

****